P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-7* (Part-2) March- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

21 वीं सदी में भारतीय विकास का सच और आदिवासी समाज

मनोज कुमार
शोधार्थी,
हिंदी विभाग,
हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
हरियाणा, भारत

सारांश

'विकास' एक अनवरत प्रक्रिया है। मनुष्य प्रकृति के साथ सदैव अनुकूलन करता आया है और कई बार उसने प्रकृति का दोहन, शोषण कर उस पर अपना अधिकार जमाने का प्रयास किया है। प्रारंभिक काल में प्रकृति अपने कोमल, सुंदर और विकराल रूप विद्यमान थी। जिसमें मानव गौण कारक था तथा पूर्ण रूप से वह प्रकृति पर निर्भर था। धीरे–धीरे प्रकृति की विकरालता कम होती गई और मानव जनसंख्या बढ़ने लगी। अपनी इन्हीं जरूरतों को पूरा करने के लिए स्वर्थावश उसने प्रकृति का दोहन–शोषण आरंभ कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप आज समस्त मानव–जाति एवं पृथ्वी के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह् लगने लगा है। आज के विकास की सबसे अधिक कीमत अगर कोई वर्ग चुका रहा है, तो निश्चित रूप से वह वर्ग आदिवासी समुदाय है। प्रस्तुत शोध पत्र आदिवासी समुदाय की दृष्टि से आज के इस तथाकथित विकास की व्याख्या करता है। भारत के आदिवासी समुदाय आज अपने जल, जंगल, जमीन के लिए संघर्षरत हैं। उनकी इसी वेदना को इस शोध पत्र में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द : आदिवासी समाज, भारतीय विकास, पर्यावरण, 21 वीं सदी।

प्रस्तावना

21 वीं सदी में आज 'विकास' शब्द कभी–कभी मात्र धोखा या भ्रम मात्र प्रतीत होता है। इस समय भारत तथा विश्व के सभी देशों में चल रहे सर्वव्यापी विकास को देखा जाये तो हम पाएंगे कि इसका अधिकांश हिस्सा मात्र कुछ संपन्न पूंजीपति एवं प्रभुसत्ताशाली वर्ग तक सीमित है, "किसका विकास? कैसा विकास? हमारी ये धरती लोहे के रूप में सोना उगलती है। फिर भी हमारे लोग इतने गरीब? ऊँची पहाड़ियों पर स्थित लोहे अयस्क कि खदानों और मीलों सी बरसात में लाल पानी बहकर वर्षों से हमारे खेतों को बर्बाद कर रहे हैं। प्रदूषण की वजह से इन इलाकों के लोगों की औसत आयु कितनी कम हो गई। उसका खमियाजा कौन देगा हमें? हमारी धरती का लोहा तो निकलकर चला जाता है देश–विदेश के कल कारखानों में.....दूसरों को समृद्ध करने। हमारे लोगों को क्या मिलता है?"[1]

भारत में विकास चाहे वर्तमान का हो या ब्रिटिश कालीन इंडिया से लेकर आजाद भर तक, पूंजीवादी व्यवस्था ने विकास की ओट में वन और वनवासियों की जैसी दुर्दशा की है उसका औपनिवेशिक इतिहास या किसी अन्य इतिहास में कहीं कोई जिक्र नहीं मिलता। ये कहा जा सकता है कि भारत में आदिवासियों ने विकास की जितनी बड़ी कीमत चुकाई है, शायद ही किसी समाज ने उतनी बड़ी कीमत चुकाई हो – "उस सच्चे पलामू का आधे से अधिक भाग बंजर पठार है। कभी यहाँ भी जंगल था अब दूर–दूर बिखरे गाँव बसे हैं। गांवों के आसपास है छोटी–बड़ी नंगी पहाड़ियाँ। पर्वत–श्रंखलाएँ .....। जंगल के अवशेष हैं ये पर्वत–पहाड़ियाँ। मूक गवाह है कि यहाँ के जंगल अब शहरों में जा बसे हैं। दरवाजों, खिड़कियों, शहतीरों, सोफा–सेटों और डाइनिंग टेबलों की शक्ल में।"[2]

आधुनिक विकास के नारों की उक्तियों ने आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन और पारंपरिक रोजगार छीन लिए हैं। प्राकृतिक संपदा से भरपूर होने के बाबजूद इन क्षेत्रों के निवासी गरीब हैं। युगों से यह क्षेत्र मुंडा, हो, संताल, गोंड, भूमिज, असुर, डोंम, सदान, विरहोर आदि जनजातियों की गृह एवं कर्मभूमि रही हैं। लेकिन आज सभ्यता के विकास ने इन लोगों की जमीन छीन के उन्हें दर–दर भटकने के लिए मजबूर कर दिया है। इससे प्रकृति को भी उतना ही नुक्सान पहुंचा है जितना कि आदिवासियों को –

"क्या यही है सभ्यता का विकास
टूट गया है प्रकृति का चक्र सहज क्रम
नियति नटी थक चली है।"[3]

विकास का दूसरा मर्म संसाधनों की लूट या संसाधनों का निरंतर उपयोग व दोहन है। ये संसाधन प्राकृतिक धरोहर के रूप में होते हैं। इसलिए जो कुछ भी हम करते हैं वह प्रकृति के माध्यम से ही करते हैं। जहाँ अधिक बहुलता से संसाधन हैं वहाँ विकास की गति तेज होती है और जहाँ कम हैं वहाँ अपेक्षाकृत धीमी गति होती है। दोनों ही रूप से हम प्रकृति का शोषण करते हैं –

"नहीं हैं प्रकृति के संसाधन अपरिमित
उनकी भी अपनी सीमाएँ हैं
गो माता के दुग्ध की तरह
अनुदित इस अमृत को तो पा सकते है
पर क्षमता से अधिक करेगें यदि दोहन
तो रक्त निकल आएगा पयास्विनी का
गों माता का।"[4]

भारत में विकास की गति प्राप्त करने के उद्देश्य में निहित संसाधनों का उपयोग ही महत्त्वपूर्ण रहा है। लेकिन वर्तमान समय में भारत तथा विश्व के अन्य प्रमुख देशों के बीच पर्यावरण व मानवीय संबंधों को लेकर जो तनाव चल रहा है। उसका अंदाजा वर्ष 2009 कोपेनहेगन सम्मेलन, 2015 का पेरिस इत्यादि सम्मेलनों से लगाया जा सकता है, जिसमें वर्ष 2020 तक 40 फीसदी ग्रीन हाऊस गैसों के उत्सर्जन में कमी की घोषणा की गई। इसी संदर्भ में पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं –

"हो रहा आज पुनः प्रकृति – मंथन
जुट गये सहस्त्रों वैज्ञानिक
जुट गई अनेकों सरकारें
जुट गये कई व्यापारी – संस्थान
कटने लगे दुरगति जंगल – जंगल
हो रही लुप्त बहुमूल्य
अनेकों वनस्पति प्रजातियाँ।"[5]

आज जल, वायु और मृदा प्रदूषण दुनिया भर में 40 फीसदी मौतों के लिए जिम्मेदार है। क्या इसी विकास की चाह है हमारी?

"जहरीली गैसों, विषैले रसायनों में
प्रदूषण का विभीषण जगा है।"[6]

,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,

"वाहनों का धुआं, धूल – गंदगी
बड़ी कठिन हो गई है
आदमी की जिंदगी।"[7]

पिछले कुछ दशकों में विशेषकर 1980 के बाद भारत में सरकारी स्तर पर यह महसूस किया जाने लगा कि पर्यावरण की सुरक्षा विकास से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। इन वर्षों में प्रकृति ने अपना रुख बदला है, जिससे भीषण अकाल, बाढ़, सूखा, भूकंप, चक्रवात आदि जैसी प्राकृतिक आपदाओं ने विकास की प्रक्रिया को ही नकार दिया है। भारत के आधे से अधिक राज्यों को बाढ़, सूखा, भूकंप, भूस्खलन, चक्रवात आदि प्राकृतिक आपदाओं का सामना करना पड़ रहा हैं।

वर्तमान में कई पर्यावरणीय रिपोर्टों के अनुसार भारत में मात्र 7 या 9 प्रतिशत भू–भागों पर ही वन रह गयें हैं। एक एकड़ वन कटने से करीब 10,000 विभिन्न जातियों के वन्य प्राणी, कीट, पतंगे आदि नष्ट हो जाते हैं जो कि जैव–विविधता के लिए सबसे बड़ा खतरा है। प्रतिवर्ष वनों के कटने से करीब 8 वर्ग मील भूमि बंजर (Barren) हो रही है। इस के साथ ही वनों के विनाश के कारण तापमान की असहनीय वृद्धि ने समस्त पृथ्वी एवं मानव के समक्ष एक विकट समस्या खड़ी कर दी है –

"विलुप्त हुई पादपों की, प्राणियों की प्रजातियाँ
मानव के क्रूर कृत्यों से, अविचारित कार्यों से
ऐसा आएगा कि एक दिवस देखना
मानव के अतिरिक्त धरा पर
कोई रह नहीं पाएगा
मानव मानव को खाएगा
रोएगा अकेला वह, खूब पछताएगा"[8]

जंगल वनवासियों की जन्म भूमि ही नहीं कर्मभूमि भी हैं। वन वनवासियों की रोजी–रोटी, संस्कृति, मर्यादा आदि सभी कुछ हैं जो बिकाऊ नहीं हैं। हमारी व्यवस्था तथा हमारी सरकार आदिवासियों की रोजी–रोटी, जंगल, जमीन, जीविका, नदी–झरनें–कुए यहाँ तक की उनके सम्मानपूर्वक जीने का हक तक छीनती रही हैं। जंगल, वन एवं पहाड़ों से समृद्ध भू–भाग इन आदिवासी क्षेत्रों की पहचान एवं सांस्कृतिक एकता के प्रतीक हैं। लेकिन इनकी यह पहचान–अस्मिता राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का शिकार बनने के कारण धीरे–धीरे समाप्त हो रही है– "संपदा लाख हो पलामू की रत्नगर्भ धरती में, पर यहाँ भूख से बिलबिलाती अपनी ही संतानों का गला घोंट कर भूखी दुसाधिन सोनाझरिया कुएं में कूद कर आत्महत्या कर लेती है। यहाँ एस० पी० के सर्वेट्स क्वार्टर में दीपक तले अँधेरा रहता है।..... यही वह जगह है जहाँ जमीदार अपने बंधुआ मजदूरों में गंध सूघते ही बाघ के समाने फिंकवा देते थे। यहाँ की नदियों में बहता है पूंजीवादी व्यवस्था का उच्छिष्ट।लघु और झंझोले उद्योग प्रदूषण और कचरे के साथ मिला जहर निरंतर उगल रहे है दक्षिण कोयल में, सदावह में, अमानत दुर्गावती और औरंग नदियों में।"[9]

वैसे तो प्राकृतिक पर्यावरणीय प्रणाली के प्रति संवेदनशीलता हमेशा से ही भारतीय समाज, सभ्यता का एक विशेष गुण रहा है और आदिवासी तथा ग्रामवासी लोग प्राकृतिक संसाधनों के उपभोग की सीमा के प्रति हमेशा से ही सचेत एवं संवेदनशील रहे हैं। उन्होंने प्रकृति का उतना ही उपभोग किया है जितना उनकी आवश्यकता के अनुकूल हो। किंतु दुर्भाग्यवश स्वतंत्र भारत ने विकसित राष्ट्रों द्वारा निर्मित संसाधनों का अत्यधिक दोहन करने वाली अर्थनीति को अपना आदर्श चुना। जिस कारण स्वतंत्र भारत में आर्थिक वृद्धि की तीव्रता प्राकृतिक संसाधनों के अव्यवस्थित शोषण के रूप में बढ़ी। इसके परिणाम स्वरूप वर्तमान समय में न केवल बाढ़, सूखा, भू–स्खलन, भूकंप, मृदा अपरदन, वर्षा चक्र में परिवर्तन, अत्यधिक भू–क्षरण, तथा जलवायु परिवर्तन आदि समस्याएँ उत्पन्न हुई बल्कि आदिवासी समुदाय के लोगों को अपने निवास स्थानों से शारीरिक एवं मानसिक तौर पर बेदखल होना पड़ा है।

प्रकृति जो सामान्य रूप से देखने पर इतनी विपुल जान पडती है लेकिन जो दरअसल उनके जितनी ही वध्य है और जीवित रहने के लिए जिस पर वे पूरी तरह से आश्रित हैं। ये आदिवासी आज तक इसीलिए बचे हुए हैं क्योंकि उन्होंने अपनी आदतों, रीति–रिवाजों को प्रकृति की लय के साथ एकात्म कर लिया है, उसके प्रति बिना हिंसा किए, उसमें बिना कोई विचलन पैदा किए, उससे जीवित रहने के लिए जो कम से कम जरूरी है उतना भर लिया। ताकि पलटकर वह फिर उन्हें ही नष्ट न कर डाले। उससे बिल्कुल उलट, जो आज हम सभ्य लोग कर रहे हैं, उन तत्त्वों को अमूल–चूल नष्ट करते हुए जिनके बिना हम वैसे ही नष्ट हो जाएँगे जैसे बिना पानी के फूल सूख जाता है।

अतः कहा जा सकता है कि 21 वीं सदी का यह विकास, विकास न होकर विनाश का पर्याय बनता चला जा रहा है। जिसकी सबसे बड़ी कीमत निर्दोष आदिवासियों को चुकानी पड़ रही है। आदिवासियों और सरकारों के बीच चल रहे संघर्ष इसके परिणाम हैं। यह विकास के विरुद्ध, विकास और अस्मिता एवं अस्तित्त्व की लड़ाई है। बाजार की आधुनिक अर्थनीति तथा उत्पादनशील तकनीकी विकास की अवधारण के साथ सामाजिक तथा पर्यावरण की भारी कीमत जुड़ी है। देश का विकास जरूर हो लेकिन यह विकास मात्र आदिवासियों की कीमत पर पूंजीपति कंपनियों का अनैतिक, असंतुलन और अन्यायपूर्ण विकास नहीं होना चाहिए। विकास की इस बेदी पर आदिवासी की बलि नहीं चढ़नी चाहिए क्योंकि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जब तक आदिवासी समाज रहेगा, तभी तक ही प्रकृति पर मनुष्य की अपराजेयता के प्रति मनुष्य का विश्वास भी जीवित रहेगा। प्रकृति के साथ आदिवासियों की घनिष्टता को इस प्रकार समझा जा सकता है – "प्रकृति के साथ..... पशु पक्षियों के साथ तालमेल रखकर जीने की कला तो आदिवासियों के पास ही है। हमें उनसें बहुत कुछ सीखने की जरूरत है। तभी इस धरती की रक्षा की जा सकती है।"[10]

बिना आदिवासियों के पर्यावरण संरक्षण की कल्पना करना व्यर्थ है क्योंकि ये वनवासी ही प्रकृति के सच्चे उपासक हैं। इस लिए जब तक ये आदिवासी है तभी तक प्रकृति बची हुई है अन्यथा इनकी समाप्ति के साथ ही प्रकृति का भी सर्वनाश होना तय है। आदिवासी समाज के लिए सबसे ज्यादा महत्त्व अगर किसी बात का है तो वह है शांति। यानि कभी किसी बात पर तिल का ताड़ न बनाना, हँड़िया में तूफान न लाना। हर प्रकार के भावनात्मक उफान को नियंत्रित करना, क्योंकि मनुष्य की आत्मा और प्रकृति के बीच वैसा ही रिश्ता है जैसा गर्भनाल और शिशु के बीच। एक के भीतर होने वाली कैसी भी हिंसा दूसरे के भीतर प्रलयकारी तबाही मचा देती है।[11]

अध्ययन का उद्देश्य

वर्तमान विकास की भौतिक समृद्धि एवं आर्थिक आधार के मॉडल से इतर सम्पूर्ण मानव जाति के विकास की कल्पना करना। इसके साथ ही 21वीं सदी के इस तथाकथित विकास की बेदी पर आदिवासी समाज की बलि नहीं चढ़नी चाहिए, क्योंकि हमें यह नही भूलना चाहिए कि जब तक आदिवासी समाज रहेगा, तब तक ही प्रकृति पर मनुष्य की अपराजेयता के प्रति मनुष्य का विश्वास भी जीवित रहेगा। जल, जंगल और जमीन के लिए संघर्षरत आदिवासी समुदाय की वेदना को अभिव्यक्ति प्रदान करना।

निष्कर्ष

समग्रतः अंतिम शब्दों में कहा जा सकता है कि दरअसल अब हमें विकास के ऐसे मॉडल के बारे में सोचने की आवश्कता है जो सिर्फ भौतिक समृद्धि पर आधारित न हो, क्योंकि अभी तक हम विकास को आर्थिक सुख–समृद्धि और खुशी का पर्याय मानते आए हैं। लेकिन अब ये समझ में आने लगा है कि विकाश का अर्थ केवल मात्र आर्थिक समृद्धि न होकर मनुष्यता का भी विकास है। इसलिए हमें आज एक ऐसी सांस्कृति विकसित करने आवश्कता है, जिसमें मनुष्य और पर्यावरण दोनों की चिंता महत्वपूर्ण हो।

अंत टिप्पणी

1. *महुआ माजी, मरंग गोडा नीलकंठ हुआ, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं.2012, पृष्ठ संख्या–317*
2. *राकेश कुमार सिंह, जहाँ खिले है रक्त पलाश, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं. 2003, पृष्ठ संख्या – 65*
3. *डॉ. किशोरीलाल व्यास 'नीलकंठ'(लेखक व प्रकाशक), पृथ्वी सागर पर्यावरण, हैदराबाद –500007, सं. 2012, पृष्ठ संख्या – 30*
4. *वही, पृष्ठ संख्या – 28*
5. *वही, पृष्ठ संख्या – 44*
6. *वही, पृष्ठ संख्या – 30*
7. *वही, पृष्ठ संख्या – 26*
8. *वही, पृष्ठ संख्या – 29*
9. *राकेश कुमार सिंह, जहाँ खिले है रक्त पलाश, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं. 2003, पृष्ठ संख्या– 67*
10. *महुआ माजी,मरंग गोडा नीलकंठ हुआ, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं.2012, पृष्ठ संख्या – 290*
11. *मारियो वार्गास ल्योसा, किस्सागो, अनु. शंपा शाह, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, सं.2011, पृष्ठ संख्या –26*